

## दलित अस्मिता से आशय

अस्मिता-विमर्श की शुरूआत ही दलित एवं वंचित होने के अहसास के साथ होती है। 'दलित' शब्द को समाज में आर्थिक दुरावस्था, गरीबी से पीड़ित जनों के लिये प्रयुक्त किया जाता है। ये वे लोग हैं जिन्हें सदियों से वर्ण, जाति, धर्म, संप्रदाय के नाम पर सामाजिक प्रताड़ना का शिकार होना पड़ा है।

दलित अस्मिता की बात की जाये तो कहा जा सकता है कि इनके अस्तित्व का विरोध वर्ण-व्यवस्था से न होकर सामाजिक जड़ता, अलौकिकता एवं भोग-विलास की सामंती मनोवृत्ति से है जिसके कारण इन्हें वर्षों से अपने अधिकारों से उपेक्षित रहना पड़ा। सर्वप्रथम अंग्रेजी सरकार ने 1933 में जब 'Depressed Classes' समाज के लोगों में कुछ सुविधाएँ दी थीं तब पहली बार 'दलित' शब्द का प्रयोग किया। 'Depressed Classes' में अस्पृश्य समाज के साथ आर्थिक रूप से पिछड़े व गरीब लोगों को इस सूची में रखा गया। इस प्रकार सामाजिक व आर्थिक रूप से शोषित, पीड़ित, वंचित, दमित व कुचला हुआ वर्ग दलित वर्ग माना गया।

भारतीय समाज में सदियों से सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक रूप से उत्पीड़ित वर्ग ने अत्याचार व शोषण के खिलाफ सवाल-जवाब करना व अपने अधिकारों की माँग करना शुरू किया, वहीं से दलित अस्मिता की शुरूआत होती

है। एक समय था जब यह उत्पीड़ित वर्ग अपनी व्यथा एवं पीड़ा को अपने भाग्य की नियति मानकर चुप रह जाता था। उसके बाद इस वर्ग ने अपनी पीड़ा को एक-दूसरे से कहना-सुनना शुरू किया, लेकिन अब उसने अपनी पीड़ा को लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्ति देना शुरू कर दिया। इसी उत्पीड़ित वर्ग से आये लेखकों ने अपने विचारों से एक ऐसा आंदोलन खड़ा कर दिया जिसने इस वर्ग को शोषणकारी शक्तियों के खिलाफ अपने मानवीय अधिकारों व अस्तित्व के प्रति लड़ने व जूझने की ऊर्जा प्रदान की।

दलित वर्ग ने साहित्य लेखन को अपनी अस्मिता व पहचान का हथियार बनाया। दलितों के अपने अधिकारों के लिये संघर्ष से ही दलित साहित्य का जन्म हुआ। दलित साहित्य के बारे में चर्चा करते हुए मोहनदास नैमिशराय ने लिखा है कि “दलित साहित्य पीड़ा, वेदना, मुक्ति का ही साहित्य नहीं बल्कि अपने अधिकारों, अस्मिता और पहचान के लिये संघर्ष करने वालों का भी साहित्य है।”<sup>1</sup> इस प्रकार मोहनदास नैमिशराय दलित साहित्य के माध्यम से दलित अस्मिता को व्याख्यायित करते हैं। उनके मतानुसार दलित अस्मिता में अपने स्वाभिमान को हासिल करने के लिये भीख व अनुनय का सहारा लेना नहीं, बल्कि अपने लिये न्यायपूर्ण अधिकारों व हक की लड़ाई लड़ना है जिसके लिये यह शोषित व उत्पीड़ित वर्ग कलम व कागज को माध्यम बनाता है।

दलित साहित्य को मानवीय सरोकारों व संवेदनाओं की यथार्थ अभिव्यक्ति बताते हुए वरिष्ठ दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है कि “दलित साहित्य जन साहित्य है, यानी मास लिटरेचर (Mas Literature)। सिर्फ

---

<sup>1</sup> हिन्दी दलित साहित्य; मोहनदास नैमिशराय, पृ. 13.

इतना ही नहीं लिटरेचर ऑफ एक्शन (Literature of Action) भी है जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामंती मानसिकता के विरुद्ध आक्रोश जनित संघर्ष है। इसी संघर्ष और विद्रोह से उपजा है दलित साहित्य।”<sup>1</sup> इस प्रकार ओमप्रकाश वाल्मीकी भी दलित साहित्य को दलितों पर सदियों की गुलामी व यातना के विरुद्ध संघर्ष व विद्रोह का परिणाम मानते हैं।

समाज में लम्बे समय से हाशिये की जिंदगी बिता रहा वर्ग दलित वर्ग है। यह वर्ग लम्बे समय से ईश्वर की विकृत अवधारणाओं, रूढ़ियों, अन्यायों, अंधविश्वासों से मुक्त होने के लिए संघर्ष करता रहा है। मुक्ति की यही छटपटाहट दलित साहित्य में क्रोध, घृणा, प्रहार के रूप में आती है। दलित लेखक अपने जीवन के अनुभवों से दलित अस्मिता का नया सौंदर्यशास्त्र गढ़ रहे हैं।

वर्षों से अपने अधिकारों से वंचित दलित समाज अब बोलने लगा है। प्राचीन भारतीय समाज में दलितों की सामाजिक स्थिति को इंगित करते हुए एस. सी. दुबे ने लिखा है कि “समाज में इनको हर वक्त अपमानित किया जाता था। यदि कोई इन्हें छू जाता तो उसे कपड़े सहित स्नान करना पड़ता था। यहाँ तक की अछूत जाति के लोगों को अपना घर, सवर्णों के घर से दूर बनाने का निर्देश था तथा मंदिर और गाँव की निश्चित सीमा के अंदर प्रवेश करने का अधिकार नहीं था।”<sup>2</sup>

नवजागरण के समय समाज व धर्म सुधार आंदोलनों से व अंग्रेजों के

---

<sup>1</sup> दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र; ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 15.

<sup>2</sup> Indian Society – S.C. Dubey, p. 57.

जमाने में हुए आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तनों से दलितों की स्थिति में सुधार हुआ। उन्हें पहली बार अपनी अस्मिता व अपने अधिकारों की पहचान हुई और उन्होंने ऊँची जातियों के अधिकारों पर सवाल उठाने शुरू कर दिये। अपने क्रोध व प्रतिरोध को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया।

औपनिवेशिक भारत में दलितों की सामाजिक स्थिति में सुधार हुआ। इसी संदर्भ में राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि “यह सच है कि दलितों और स्त्रियों के लिए मुक्ति मार्ग पहले व्यापार ने और फिर अंग्रेजों ने खोले। उपनिवेश पर अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए उन्होंने भौगोलिक सर्वेक्षणों के द्वारा नक्शे तैयार किए, तो दूसरी ओर मर्दमशुमारी की प्रक्रिया द्वारा सारे देश की जातियों, धर्मों, भाषाओं और अन्य विशिष्टताओं की पहचान की। हर वर्ग और क्षेत्र के लोगों को अपनी स्थिति और संख्या की वास्तविक जानकारी इसी जनगणना से मिली। राष्ट्र की परिकल्पना में इस भूगोल और आबादी के स्वरूप का बहुत बड़ा हाथ है। दूसरी थी लोकतांत्रिक व्यवस्था का प्रारंभ। सही है कि इंग्लैंड में जो डेमोक्रेसी थी, उपनिवेशों में ठीक वहीं नहीं थी। मगर प्रशासन और कानून की दृष्टि में एक ब्राह्मण और शूद्र दोनों बराबर थे उधर ईसाई धर्म भी इसी समता की बात करता था कि शिक्षा, जीविका या रहन-सहन के सबको एक ही अधिकार होने चाहिये यह सिद्धान्त अपने आप में क्रान्तिकारी और जड़ हिन्दू समाज को बौखला देने के लिए काफी था।”<sup>1</sup>

20वीं सदी में स्वतंत्र भारत के संविधान ने दलितों को भले ही अधिकार दे दिये हैं लेकिन आज भी देखते हैं कि न सिर्फ गाँवों में बल्कि शहरों में भी

---

<sup>1</sup> संपादकीय, सत्ता की शतरंज और दलित मोहर : राजेन्द्र यादव, हंस, अगस्त-2004.

यह वर्ग नरक की जिंदगी को जीने को विवश है। आज भी यह वर्ग पशु से भी बद्तर जिंदगी जीते हुए अपने अस्तित्व व अस्मिता के लिये संघर्षरत है। आज भी स्वतंत्र भारत में संवैधानिक कानून होने के बावजूद भी इस वर्ग को सार्वजनिक जगहों से पानी भरने व धार्मिक स्थलों पर जाने की मनाही है। अपनी अस्मिता, आत्म-सम्मान व स्वाभिमान के लिये आज भी दलित वर्ग संघर्ष कर रहा है।

भारतीय समाज में वंश और श्रम के आधार पर भेदभाव व विरोध का इतिहास पुराना है। सामाजिक भेदभावों के विरुद्ध संघर्ष का ही परिणाम है कि आज दलितों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आने लगा है। उन्हें अपनी अस्मिता व आत्मसम्मान के साथ जीने का हक है। उनकी भी जिंदगी में बदलाव आ सकता है और वे भी अपने मुक्ति के रास्ते खोज सकते हैं यह अहसास उन्हें अब होने लगा है। लेकिन राजनीतिक तौर पर उनके उत्थान के नाम पर जो हो रहा है वह व्यक्ति पूजा के कारण निराशाजनक है। “दलित वैश्वीकरण और सामाजिक पृथकता की राजनीति के बीच सैंडविच बन गए हैं। धर्म और धर्मांतरण की तरह वैश्वीकरण भी एक छद्म आशा है इसके मायालोक में दलितों की आवाज गुंज रही है और खोती भी जा रही है।” इसी संदर्भ में वे आगे लिखते हैं कि “इस समय फुले, अंबेडकर या गाँधी आ जाते, निश्चय ही वे सिर्फ अपनी मूर्तिया नहीं लगा रहे होते, पार्कों पर अपना नाम नहीं खुदवा रहे होते। वे सिर्फ प्रतीक बनकर ठिठुर नहीं रहे होते। इससे भी समझ में आ सकता है कि उनके समय के महान आंदोलन आज किस दिशा में है।”<sup>2</sup>

---

<sup>1</sup> भारतीय अस्मिता और हिन्दी - शंभुनाथ, पृ. 241.

<sup>2</sup> वही, पृ. 241-242.

आज हमारे देश में प्रतिनिधिक जनतंत्र की जगह सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व की माँग बढ़ रही है। चारों तरफ हर स्तर पर सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व की राजनीति है। दलित पिछड़ों की राजनीतिक लड़ाई चरम-सीमा पर है। हिन्दी समाज भी भेदभाव, पृथकता और घृणा-प्रतिघृणा का केन्द्र बना हुआ है। चारों तरफ लोग तीतर-बटेर की तरह लड़ रहे हैं। यह सब वैश्वीकरण के रास्ते साम्राज्यवाद को पुनः नियंत्रण देने जैसा है।

वर्तमान समय में दलित विखंडन के अतिवादों ने अस्मिता के सवाल को एक प्रायोजित मामला बना दिया है। दलित विमर्श में परम्पराओं एवं रूढ़ियों के विखण्डन की उत्सुकता जितनी पुरानी है, साम्राज्यवाद से मुठभेड़ की नहीं है। साम्राज्यवाद जब आता है तो इतिहास को छेड़ते हुए इन्सान को उसके अतीत के श्रेष्ठ को भूलने एवं निकृष्ट को याद करने के लिए उकसाता है। दलित अतीत को पूर्णतः छोड़कर या तो आगे बढ़ना चाहते हैं या फिर कड़वे प्रसंगों को याद करते हैं।

हिन्दी क्षेत्र में दलित अस्मिता आंदोलन का रूप नहीं ले पा रही है। इसमें फूले, अंबेडकर और दलित पैथर्स के दौर की ऊँचाईयाँ नहीं हैं। इस आंदोलन में सच्ची पीड़ाओं के बावजूद उत्तेजनात्मक बातें अधिक हैं। आज दलित अस्मिता और दलित राजनीति के बीच फाँक है। दलित राजनीति में आज न समाज में व्याप्त अंधविश्वासों और निर्बुद्धिपरिकताओं के उन्मूलन पर जोर है और न ही दलित स्त्री की मुक्ति का प्रश्न महत्वपूर्ण है। प्रो. शंभुनाथ लिखा है कि “दलित राजनीति में दलित जाप ज्यादा है। इसमें दलितों को शोषणमूलक स्थितियों से मुक्त करने के लिए बुनियादी परिवर्तन की कोशिशें नहीं हैं। दलित राजनीति में वे

सारी राजनीतिक विकृतियाँ आ गई हैं, जो लोकतांत्रिक कहे जाने वाले राष्ट्रीय दलों को पहले खा चुकी है।”<sup>1</sup> इस प्रकार प्रो. शंभुनाथ का मानना है कि दलित इस अवमानना की आग में हजारों सालों से जलते आ रहे हैं लेकिन वे आज भी सामाजिक अत्याचारों की दुनिया से बाहर नहीं आ पाये हैं।

सदियों से मुख्यधारा में शामिल शोषित, पीड़ित व अपनी अस्मिता से अनभिज्ञ इस समाज को महात्मा बुद्ध ने सबसे पहले अपने अधिकारों से रूबरू कराया। महात्मा बुद्ध के समय वर्णव्यवस्था अपनी क्रूरतम अवस्था में पहुँच चुकी थी। महात्मा बुद्ध ने सर्वप्रथम वर्णव्यवस्था का विरोध किया एवम् व्यक्ति को केन्द्र में रखकर अपना दर्शन प्रस्तुत किया। उन्होंने वर्णव्यवस्था को चुनौती देते हुए समतावादी व्यवस्था स्थापित करने की कोशिश की। दलित अस्मिता भी वर्णव्यवस्था का विरोध करते हुए बुद्ध की समतावादी दृष्टि, करुणा व शील की भावना को स्वीकार करती है।

महात्मा बुद्ध के बाद मध्यकाल में निर्गुणवादी सन्तों ने वर्णव्यवस्था के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द की। मध्यकाल में सन्तों ने सम्पूर्ण देश में तीखे व कड़े शब्दों में मनुष्य को केन्द्र में रखकर अपना चिन्तन प्रस्तुत किया। कबीरदास व नामदेव ने अपनी वाणी से समतावादी विचारों को दूर-दूर तक समाज के विभिन्न तबकों तक पहुँचाया। पंजाब के गुरुनानक ने वर्ण और जाति व्यवस्था के विरोध में जाकर ‘दादूपंथ’ की शुरुआत की। तमिलनाडु के आलवार सन्त भी वर्णव्यवस्था के विरोध में ही अपने विचारों को प्रस्तुत कर रहे थे सन्तों की वर्णव्यवस्था के खिलाफ विस्फोट रूपी वाणी के बावजूद दलितों की

---

<sup>1</sup> वही, पृ. 247.

सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। बल्कि जीवन के विविध क्षेत्रों में छुआछूत व भेदभाव की भावना दृढ़ से और दृढ़तर होती गई।

हालांकि दलित साहित्य सन्तों की इस ऐतिहासिक भूमिका को पूर्ण सम्मान के साथ स्वीकार करता है। सन्तों को छोड़कर शेष समाज की दलितों को देखने की दृष्टि में कोई विशेष बदलाव नहीं आया। लेकिन फिर भी दलित समाज सन्तों के इस विद्रोहात्मक व आक्रामकत्मक रूख के सामने नतमस्तक है।

19वीं शती के धार्मिक व सामाजिक सुधार आंदोलनों के माध्यम से भारतीय हिन्दू समाज पहली बार आत्म-परीक्षण के लिये तैयार हुआ। हजारों सालों की दलितों के प्रति घृणा की भावना को तोड़ने का काम ब्रह्म समाज (1828 ई.) और आर्य समाज (1875 ई.) ने किया। पहली बार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जाति-प्रथा व वर्ण-व्यवस्था पर कठोर प्रहार किये। लेकिन उन्होंने समाज-व्यवस्था का कोई नया मॉडल प्रस्तुत नहीं किया। दयानन्द सरस्वती ने वर्ण-व्यवस्था की नयी व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने जन्माधिष्ठित वर्ण-व्यवस्था को नकारकर कर्माधिष्ठित वर्ण-व्यवस्था की स्थापना की। आर्य समाज ने वेदों को प्रमाण मानते हुए दलितों में आत्म-सम्मान की भावना प्रतिष्ठित की। आर्य समाज ने अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन जैसा महत्वपूर्ण कार्य किया जिसे आगे चलकर भीमराव अम्बेडकर ने स्वीकार करते हुए अन्तर्जातीय विवाह करने पर बल दिया। दयानन्द सरस्वती के समकालीन ज्योतिबा फुले (1827-1890) ने सम्पूर्ण व्यवस्था की नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए पौराणिक व वैदिक व्यवस्था का विरोध किया। फुले विशुद्ध सामाजिक व्यवस्था के समर्थक थे।



स्वामी दयानन्द सरस्वती के ही समकालीन प्रमुख दलित चिंतकों नारायण गुरु, ज्योतिबा फुले, पेरियार, अछूतानंद और बाद में अंबेडकर ने दलितों को उनके अधिकारों से रूबरू कराने का काम किया। इन्होंने शोषित व पीड़ित लोगों को सामाजिक विषमता के खिलाफ सामना करने की हिम्मत दी। सामाजिक जीवन में शिक्षा के महत्व को बताया। साथ ही इनके आत्म-सम्मान व स्वाभिमान का बीज बोया। इसी का परिणाम है कि दलित अस्मिता सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक स्तर पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हुए अपने अधिकारों के लिये संघर्षरत है।

ज्योतिबा फुले महाराष्ट्र के ही नहीं, संपूर्ण देश के समाज सुधारकों में सबसे अधिक आक्रामक, प्रतिभा-सम्पन्न और विद्रोही व्यक्तित्व थे। ज्योतिबा फुले ने वर्ण-व्यवस्था की नयी व्याख्या देते हुए पौराणिक व वैदिक व्यवस्था का विरोध किया। फुले विशुद्ध सामाजिक व्यवस्था के समर्थक थे। फुले ने बौद्धिक स्तर पर विषम समाज रचना का विरोध किया, पिछड़ी जातियों व दलितों को संगठित किया एवम् दलितों, पीड़ितों, शोषितों व स्त्रियों के लिये शिक्षा व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त किया। फुले के सृजनात्मक मार्गों व वैचारिक लेखन से दलित आंदोलन को वैचारिक पृष्ठभूमि मिली।

19वीं शती के धार्मिक व सामाजिक सुधार चिन्तकों ने समान रूप से यह माना कि वर्ग, जाति और धर्म के आधार पर जो भेद मनुष्य ने तैयार किये हैं वे कृत्रिम हैं। इन सभी सुधारकों ने इन भेदों के खिलाफ जेहाद छेड़ते हुए पूरे तथाकथित शास्त्र को चुनौती दी। महात्मा फुले ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गुलामगिरि' (1873) के माध्यम से यह चुनौती दी। "महात्मा ज्योतिबा जी का आन्दोलन

किसी जाति-विशेष के विरोध में अथवा किसी जाति-विशेष के समर्थन या संगठन के लिए नहीं था। अपितु जो शोषित और पीड़ित है उनकी मुक्ति का, उनके स्वाभिमान भरने हेतु चलाया गया आन्दोलन था। ज्योतिबा ने ही मराठी में 'बहुजन समाज' शब्द को एक नया और व्यापक अर्थ दिया है। दलित और स्त्री (चाहे वह किसी भी वर्ण या जाति से संबंधित हो) उनके चिन्तन के प्रमुख विषय थे।" इस प्रकार ज्योतिबा फुले ने अपने क्रान्तिकारी सामाजिक विचारों व कार्यों से तहलका मचा दिया। क्योंकि इससे पहले दलितों की समस्या पर विचार जरूर हो रहा था लेकिन उसमें दया की भावना थी और फुले ने जेहाद छेड़ते हुए शास्त्रों में व्याख्या को ही बदलने की बात कर दी।

महात्मा फुले के क्रान्तिकारी विचारों के सम्बन्ध में डॉ. जनार्दन वाद्यमारे ने लिखा है कि "महात्मा फुले जी को वास्तव में किसी भी प्रकार का भेदभाव मान्य नहीं था। जातिभेद तो कतई नहीं, मनुष्य-मनुष्य में बन्धुभाव अगर निर्माण हुआ तो न रहेगा धर्मभेद और न रहेगा जातिभेद। वास्तव में सभी धर्म अधूरे हैं। तथापि प्रत्येक में किसी न किसी प्रकार का सत्य है ऐसा फुले जी का कहना था।"<sup>12</sup>

दलित साहित्य फुले के क्रान्तिकारी परिवर्तनशील विचारों को स्वीकार करता है। जिनके माध्यम से फुले ने सर्वधर्म समभाव व धर्म-निरपेक्षता का व्यापक आदर्श सम्पूर्ण भारतीयों के सामने रखा। दलितों की ऐसी स्थिति के लिए वे शिक्षा व ज्ञान के अभाव को कारण मानते थे। उन्होंने लिखा है -

---

<sup>1</sup> दलित साहित्य : स्वरूप और संवेदना - डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे, पृ. 24.

<sup>2</sup> समाज परिवर्तन की दिशाएँ - डॉ. जनार्दन वाद्यमारे, पृ. 99.

“ज्ञान के अभाव में बुद्धि गई  
बुद्धि के अभाव में नीति गई  
नीति के अभाव में गति गई  
गति के अभाव में सम्पत्ति गई  
सम्पत्ति के अभाव में शूद्र बर्बाद हो गए  
केवल ज्ञान के अभाव में इतना अनर्थ हो गया।”<sup>1</sup>

महात्मा फुले के बाद दलित साहित्य के सृजन में डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा मूल रूप से काम कर रही है। अम्बेडकर की विचारधारा दलित साहित्य का प्रस्थान बिन्दु है। डॉ. अम्बेडकर दलित साहित्य के प्रेरणास्रोत है। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों को न केवल उनके आत्म-सम्मान, अस्मिता व स्वाभिमान का अहसास कराया बल्कि भारतीय समाज में अपना स्थान भी दिलाया। अम्बेडकर ने ही दलितों को उनके मानवनीय अधिकारों से परिचित कराते हुए अन्याय व अत्याचार के खिलाफ लड़ना सिखाया।

मार्क्सवाद जहाँ सामाजिक विषमता के मूल में आर्थिक विषमता को कारण मानता है, वहीं अम्बेडकर का मानना था कि मात्र आर्थिक विषमता अछूतों की भयावह स्थिति के लिये मूल कारण नहीं है। उनकी दुरावस्था के लिये सामाजिक रचना, पारस्परिक शास्त्र, धर्म तथा अनेक इकाइयाँ जिम्मेदार है, उनमें अर्थ भी एक कारण है, एकमात्र कारण नहीं है। इस प्रकार अम्बेडकर आर्थिक विषमता, पूँजीवादी व्यवस्था के साथ हिन्दुओं की सामंतवादी मानसिकता को भी अछूतों की स्थिति के लिये कारणीभूत मानते हैं।

---

<sup>1</sup> आहे तरी काम मण्डल आयोग : गोविन्द पानसरे, पृ. 16-17.

दरअसल डॉ. अम्बेडकर एक ऐसे समाज का स्वप्न देख रहे थे जिसमें मनुष्य की पहचान मनुष्य के रूप में हो। समाज में केवल किसी जाति या वर्ण के कारण उसे न विशेष सुविधाएँ प्राप्त हों न उसकी अवहेलना हो। आर्थिक व बौद्धिक रूप से कमजोर व पिछड़े लोगों को सुविधाएँ व अधिकार देकर वे समतावादी समाज व्यवस्था स्थापित करने की बात करते हैं।

समतावादी समाज व्यवस्था के लिये डॉ. अम्बेडकर ने क्रूर जाति-प्रथा को तोड़ने की बात की। जाति-प्रथा तोड़ने के लिये अन्तर्जातीय विवाह ही एकमात्र उपाय है ऐसा अम्बेडकर का मानना था। उनका मानना था कि अन्तर्जातीय विवाह अधिकाधिक होते जाएं तो जाति में बन्धन अपने आप कमजोर हो जायेंगे, क्योंकि रक्त सम्बन्धों के कारण ही आत्मीयता की भावना पनपती है। अन्तर्जातीय विवाह से सैकड़ों वर्षों से चली आ रही जाति-प्रथा को नष्ट किया जा सकता है।

अम्बेडकर के सम्पूर्ण विवेचन के केन्द्र में मनुष्य था। मनुष्य को उसके मानवीय अधिकार उपलब्ध करा देना वे अपनी जिम्मेदारी समझते थे। दलित साहित्य अम्बेडकर के सम्पूर्ण विश्लेषण व सुझावों को पूर्ण रूप से स्वीकार करता है।

अम्बेडकर समाजवादी व्यवस्था के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने 1936 ई. में स्वतन्त्र मजदूर दल की स्थापना की। इस राजनीतिक दल के माध्यम से अम्बेडकर ने भारत में दलित, शोषित, पीड़ित श्रमिकों को एक झण्डे के नीचे लाकर संगठित किया।

अम्बेडकर के राजनीतिक व सामाजिक विचारों का केन्द्र बिन्दु समाज की

आखिरी सीढ़ी पर बैठा हुआ, सभी ओर से पीड़ित, शोषित व नकारा गया मनुष्य है। उनका मानना था कि इसी मनुष्य के स्वाभिमान, अस्मिता व इसके अधिकारों की रक्षा के लिए राजनीति की जानी चाहिए। अस्मिता, स्वाभिमान व मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिये डॉ. अम्बेडकर ने 'पढ़ो', 'संगठित हो जाओ' और 'संघर्ष करो' ये तीन सूत्र दिये। दलित साहित्य इनके इन तीन सूत्रों को अस्मिता, स्वाभिमान व स्वतंत्रता के रूप में स्वीकार करता है। दलित साहित्य में जो 'विद्रोह' एवं 'नकार' की चिंगारियाँ हैं वे अम्बेडकर के व्यक्तित्व व विचारों से ही प्राप्त हैं। अम्बेडकर के विचारों को ही दलित साहित्य प्रस्थान बिन्दु के रूप में स्वीकार करता है।

अम्बेडकर के बाद दलित राजनीति कई उतार-चढ़ावों से गुजरी है। जिसे रिपब्लिकन पार्टी का उत्थान, दलित पैथर का उभार एवं दलितों की राजनीतिक सत्ता में दावेदारी की माँग के रूप में देखा जा सकता है। काशीराम के नेतृत्व में 'बहुजन समाजवादी पार्टी' का राष्ट्रीय राजनीति में सशक्त हस्तक्षेप दलित चेतना की गतिशीलता का ही परिचय देता है।

आज हम देख रहे हैं कि हजारों सालों से सत्ता, संपत्ति और मानवीय अधिकारों से वंचित किए गए दलित, शोषित व पीड़ित लोगों में नया जागरण आ रहा है। आज सम्पूर्ण देश में बड़े पैमाने पर दलित अस्मिता का प्रश्न सत्ता में दावेदारी का पैतरा लेते हुए आगे बढ़ता दिख रहा है।

स्वतंत्र भारत के लोकतांत्रिक संविधान ने दलितों को भले ही सारे मानवीय अधिकार दे दिये हों लेकिन आज भी मुख्यधारा का समाज उनको पूर्णतः अपना

नहीं रहा है। 'दलितों' ने अपनी अस्मिता व उत्पीड़न की पहचान को लड़ने का कारगर हथियार बनाया है। इसके माध्यम से वे सदियों से चले आ रहे उत्पीड़न व भेदभाव को समाप्त कर एक ऐसे समाज की स्थापना चाहते हैं जिसमें सबको बराबर का सदस्य माना जाएगा जिसमें कोई दलित और पीड़ित नहीं रहेगा। जन-आंदोलनों एवं राजनीति में आये तमाम बदलावों ने दलितों के भीतर एक विवेक पैदा किया है कि इस शोषण पर आधारित समाज को नष्ट करके समतामूलक समाज स्थापित किया जा सकता है। जहाँ परम्परागत समाज-व्यवस्था में दलितों की अस्मिता व मानवीय अधिकार के सभी दरवाजे बंद थे, वहीं आज धन, धर्म, शिक्षा, अधिकार, अस्मिता व सम्मान का भूखा यह वंचित समाज शिक्षित होकर अपनी अस्मिता व अधिकारों के प्रति जागरूक होता दिखाई पड़ रहा है।